ISSN: 0024-595X

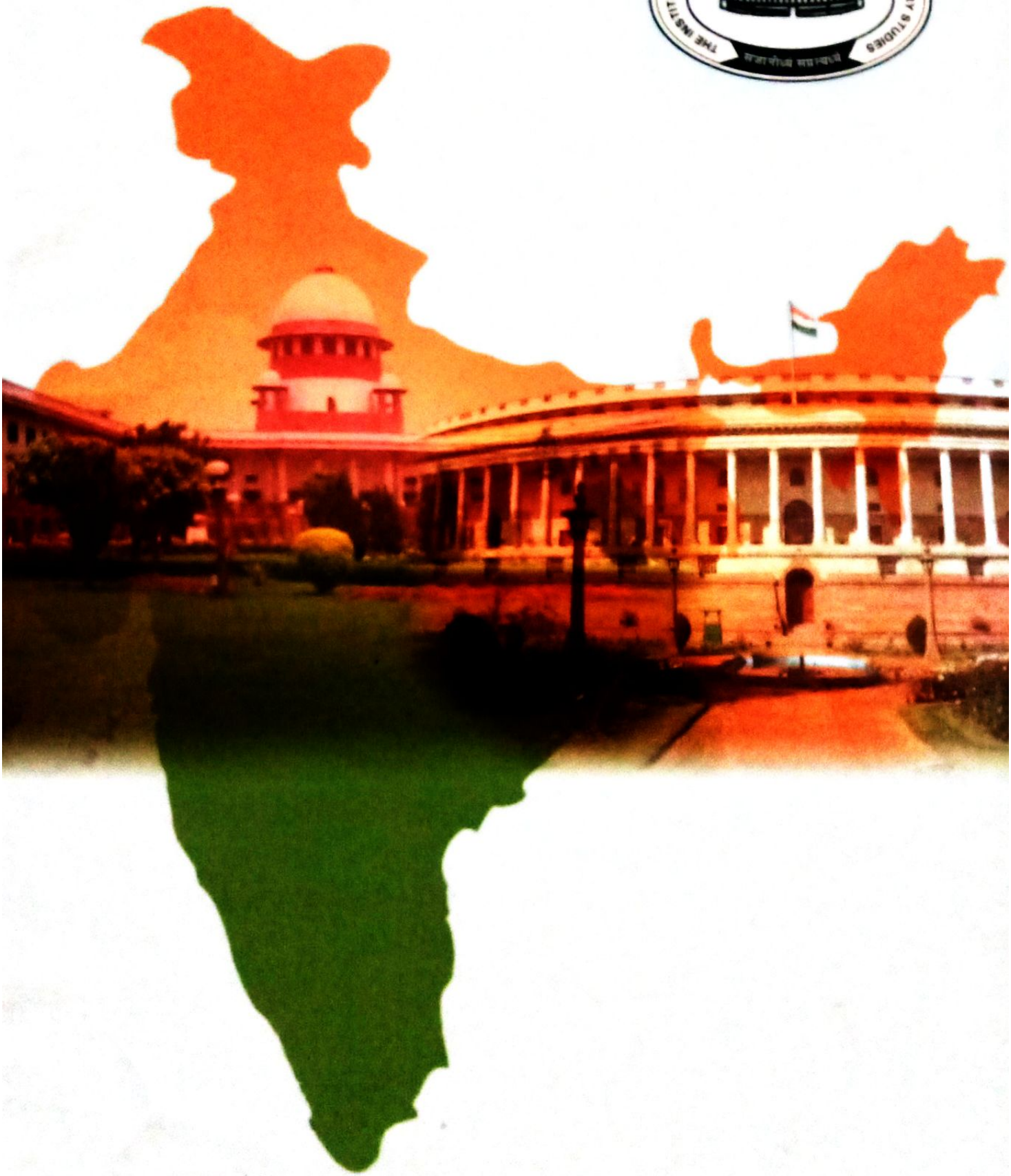

लोकतन्त्र समीक्षा

खण्ड 44 अंक 1-2

जनवरी-जून 2012

विषय सूची

खण्ड 44 अंक 1–2 *जनवरी - जून 2012*

लेख

1. लोकपाल की संवैधानिक-राजनीतिक चुनौतियाँ
युगल झा 1

2. भारत में संसदीय प्रणाली - एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण
आशुतोष पितलिया 8

3. कमजोर वर्गों को आरक्षण का लाभ :
उत्तराखण्ड के विशेष सन्दर्भ में
शशि प्रभा
मीनाक्षी शर्मा 12

4. भारत में सु-शासन एवं पंचायती राज संस्थाएं:
भूमिका, संभावनाएं और चुनौतियां
सुनील महावर 20

5. पश्चिम बंगाल विधानसभा चुनाव 2011 एवं वामपंथी दल
रामबहादुर वर्मा 38

6. भारत में चुनाव सुधार : न्यायपालिका की भूमिका
एस.पी. मीणा 49

7. भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की भूमिका
निर्मल राणा 68

8. भारतीय संसदीय प्रजातंत्र में राष्ट्रपति की उभरती भूमिका
ओमप्रकाश पंवार 81

9. गांधीवादी राजनीति और स्वतंत्रता आन्दोलन
सच्चिदानन्द मिश्र 92

10. इच्छामृत्यु - एक संवैधानिक विश्लेषण
सतीश कुमार नागर 99

11. भारत - प्रगतिशील लोकतंत्र की ओर अग्रसर
जयकुमार मिश्र 105

भारत
प्रगतिशील लोकतंत्र की ओर अग्रसर

*जयकुमार मिश्र**

अपने निर्माण काल से ही भारत की लोकतांत्रिक-व्यवस्था राजनीतिक आकर्षण एवं बौद्धिक विमर्श का केन्द्र रही है। एक ऐसे समाज के लिए जो सदियों से परम्परागत प्रथाओं एवं समस्याओं में रत और आधुनिक अर्थों में राजनीतिक सहभागिता से विरत था, उसे अचानक लोकतांत्रिक संस्थाओं में आबद्ध कर राजनीतिक चेतना के प्रवाह में धकेल देना और फिर आगे चलकर इन सबको सफलतापूर्वक आत्मसात् कर लेना किसी आश्चर्य से कम नहीं है। हमारी अब तक की लोकतांत्रिक विकास यात्रा उन भविश्यवाणियों को झुठलाने में कुल मिला कर सफल सिद्ध हो चुकी है, जिसमें सेलिग हेरिसन ने प्रान्तीयता की बढ़ती हुई भावनाओं के कारण देश का खण्ड-खण्ड विभाजन होने और यहाँ पुनः ताना ाही के आ जाने की सम्भावना व्यक्त की थी[1] तथा आर्थर जेञ डोनोवान जैसे विद्वान ने भारत के भविश्य पर यह कहकर प्र नचिन्ह लगाया था कि इस देश का विभाजन आर्यों तथा अनार्यों (द्रविड़) के आधार पर सुनि चित हो चुका है।[2] हमारी परिपक्वता की ओर बढ़ती राजनीतिक चेतना ने वेल्स हेंगन की उस चिन्ता को बहुत पहले खारिज कर दिया, जिसमें 'नेतृत्व के अभाव का संकट और सत्ता परिवर्तन एवं हस्तान्तरण का संकट' विशय पर काफी बौद्धिक मंथन प्रस्तुत किया गया था।[3]

विगत 6 दशकों की राजनीतिक विकास यात्रा का यदि विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि यद्यपि जनता की राजनीतिक सहभागिता बढ़ी है (इसका प्रमाण निरन्तर बढ़ता मतदान प्रतिशत एवं राजनीतिक दलों की बढ़ती संख्या है) तथापि जिस अनुपात में राजनीतिक

---

* अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, राजा हरपाल सिंह महाविद्यालय, सिंगरामऊ, जौनपुर (उ०प्र०)

1 ळेरिसन, सेलिग, *इण्डिया - द मोस्ट डेंजरस डिकेड्स*, प्रिंसटन, 1960

2 ऑर्थर जे. डोनोवान - 'सेपरेटिस्ट टेंडेंसीज इन ईस्टर्न इण्डिया', *एशियन सर्वे*, अक्टूबर, 1967

3 हेंगन, ले. वेल्स, 'आफ्टर नेहरू हू', *न्यूयार्क*, 1963

सक्रियता बढ़ी है, उस अनुपात में लोगों को आर्थिक संसाधनों के उपयोग में सहभागिता नहीं मिल पा रही है। भारत में गरीब वर्ग एवं सामाजिक रूप से पिछड़े वर्ग राजनीतिक प्रक्रिया में अधिक सहभागिता (मतदान) करने लगे हैं, लेकिन इसके बावजूद भी इनकी राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभावकारिता में अपेक्षित वृद्धि नहीं हो पा रही है। कैपजेमाई और मेरिल लिंच नामक संस्थाओं ने 24 जून 2010 को जारी अपनी विश्व सम्पत्ति रिपोर्ट में इस बात का खुलासा किया कि भारतीय करोड़पतियों की संख्या 126700 हो गयी है तथा 602 अरबपति व्यापारी भारत में हैं। इस समृद्धि के साथ यह तथ्य भी जुड़ा हुआ है कि भारत वर्तमान समय में विश्व की दसवीं सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है, जो 2020 तक पाँचवीं सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था बन जाएगा।[4] इस समृद्धि की तुलना जब इस तथ्य से की जाती है कि भारत में अभी भी 26-32 प्रतिशत जनता गरीबी रेखा के नीचे जीवन-यापन कर रही है, मानव विकास सूचकांक में हमारा स्थान 134वाँ (2011)[5] और भारत में प्रति 3 में से एक बच्चा कुपोषण का शिकार है[6] तो आर्थिक असमानता का यह चित्र इस बात की घोषणा करता है कि आर्थिक लोकतंत्र अभी भी स्वप्न सदृश ही है।

यदि हम सामाजिक लोकतंत्र पर अपना ध्यान केन्द्रित करें तो देखेंगे कि हमारा समाज निरन्तर असहिष्णुता एवं तनाव की ओर बढ़ रहा है। समाज के भीतर विभिन्न वर्गों (वर्ग से आशय विभिन्न जातीय, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक इकाइयों में विभाजित व्यक्ति-समूहों से है) के बीच मानसिक, वैचारिक एवं व्यावहारिक स्तर पर कोई 'गठबंधन' नहीं है, लेकिन राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए 'गठबंधन' बन रहे हैं (देखें, भाजपा के नेतृत्व में एनडीए तथा कांग्रेस के नेतृत्व में यूपीए गठबंधन) सहिष्णु समाज के अभाव में सहिष्णु राजनीति कैसे दीर्घजीवी रहेगी, यह एक महत्वपूर्ण चिन्तन बिन्दु है।

लोकतंत्र के समर्थक कहते हैं कि निर्वाचन स्वयं में राजनीतिक चेतना पैदा करने का सबसे बड़ा स्रोत होता है, लेकिन भारत में चुनावों ने राजनीतिक चेतना कम 'राजनीतिक उत्तेजना' अधिक पैदा की है। यह बात मैं इसलिए कह रहा हूँ कि पर्यावरण-प्रदूषण का

---

[4] अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा व्यक्त एक ठोस सम्भावना, *बिजनेस स्टैण्डर्ड*, लखनऊ, 09 दिसम्बर 2011

[5] यू. एन. डी. पी. की नवम्बर 2011 में जारी रिपोर्ट के अनुसार विश्व में भारत का मानव-विकास सूचकांक में 134वाँ स्थान है।

[6] *दैनिक जागरण*, वाराणसी संस्करण, 11 जनवरी 2012 - प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह जी द्वारा जारी हंगामा सर्वे रिपोर्ट के अनुसार कुपोषण के संदर्भ में भारत की दशा अफ्रीका से भी खराब है।

बढ़ता खतरा, अनियंत्रित गति से बढ़ती जनसंख्या, चीन एवं पाक द्वारा एक बड़े भारतीय भू-भाग पर कब्जा करने की घटना, अवैध बंगलादेशी नागरिकों का भारत में आगमन, डेढ़ लाख किसानों द्वारा देश में आत्महत्या, तीव्र आर्थिक सुधारों का अभाव, हमारी रक्षा/सैन्य तैयरियों का पड़ोसी देशों की तुलना में कमजोर होना तथा संसद एवं राज्य विधानमण्डलों के कार्य-दिवसों की निरन्तर घटती संख्या जैसे महत्वपूर्ण एवं विवेकसम्मत मुद्दे भारत में कभी भी चुनाव के मुद्दे नहीं बन पाए हैं, लेकिन जाति, क्षेत्र, भाषा, धर्म, आरक्षण जैसे भावनात्मक मुद्दे प्रत्येक चुनाव में छाए रहते हैं। भारत में यदि राजनीतिक भर्ती एवं निर्वाचन व्यवस्था के पारस्परिक सम्बन्धों का वि लेषण किया जाय, तो ज्ञात होगा कि चुनावों ने समाज की अलोकतांत्रिक प्रवृत्तियों को लोकतांत्रिक व्यवस्था में प्रवेश करने का एक आसान मार्ग दे दिया है। राजनीति में अराजनीतिक मानसिकता एवं चरित्र के लोगों का प्रवेश हमारे लोकतंत्र के लिए चुनौती है, ऐसे लोग जिनकी मानसिकता ही लोकतांत्रिक नहीं है, जो अपनी प्रवृत्ति में ही अपराधी (अलोकतांत्रिक) हैं, भारी संख्या में विधायिकाओं (विधानसभा, विधानपरिषद, लोकसभा और राज्यसभा) में प्रवेश कर रहे हैं। फलतः संसद में असंसदीय आचरण एवं वैचारिक असहिष्णुता बढ़ती जा रही है (वर्तमान लोकसभा के 150 सांसदों के ऊपर आपराधिक मुकदमे दर्ज हैं और उनमें से 72 का गम्भीर आपराधिक रिकार्ड है)[7] ऐसे जनप्रतिनिधि सदन में प्रश्न पूछने में भी विशेष रुचि नहीं लेते हैं। संवैधानिक दुराचरण और भ्रष्टाचार ने भारत में 'राजनीतिक विश्वसनीयता के अभाव' (अर्थात् कोउ नृप होए हमें का हानी...) को जन्म दिया है। लोकतंत्र में जनता का विश्वास बना रहे, इसके लिए सर्वोच्च न्यायालय के आदेश पर कतिपय चुनाव सुधार हुए हैं, जिनका सकारात्मक परिणाम भी सामने आया है, लेकिन अभी भी बहुत कुछ करना बाकी है। भारत में जनता की राजनीतिक चेतना निरन्तर बढ़ रही है और उसने अपने संकीर्ण स्वार्थों को पूरा करने के लिए राजनीति का प्रयोग शुरू कर दिया है और दुर्भाग्य से उसे ऐसे नेतृत्वकर्ता भी आसानी से मिल जाते हैं। यह स्थितियाँ 'स्वस्थ लोकतंत्र' के विकास को बाधित कर रही हैं। दायित्व बोध से विहीन संवैधानिक संस्थाएं और राष्ट्रवादी नागरिक चेतना से वंचित भारतीय समाज लोकतंत्र का 'लबादा' कैसे और कब तक धारण कर पाएगा? यह एक यक्ष प्रश्न है।

भाषा और क्षेत्रीय अस्मिता की राष्ट्रीय स्तर पर स्वीऔति (अर्थात् पहचान की राजनीति) तथा राज्यों की सीमाओं के पुनर्निर्धारण का प्रश्न भी समय-समय पर भारतीय लोकतन्त्र

---

[7] सिंह, संचित, *क्रिमिनलाइजेशन ऑफ पॉलिटिक्स : ए प्रोजेक्ट स्टडी*, नेशनल लॉ इन्स्टीट्यूट, भोपाल (मध्य-प्रदेश)

की अग्नि-परीक्षा लेता रहा है, लेकिन हम इसमें सफल रहे हैं। भारतीय लोकतन्त्र शान्तिपूर्ण तरीके से सत्ता परिवर्तन का सशक्त दस्तावेज बन चुका है। स्वतन्त्र, निष्पक्ष एवं नियमित निर्वाचन ने हमारे लोकतंत्र को सींचने का काम किया है। कांग्रेस प्रभुत्व वाली दल प्रणाली से बाहर आकर आज हमने गठबंधन वाली दल पद्धति का विकास कर लिया है और पिछले 20 वर्षों से उसी मार्ग पर हम सफलतापूर्वक चल रहे हैं। भारत की आधुनिक राजनीतिक संस्औति ने दो दलों के नेतृत्व वाली गठबंधन प्रणाली (यूपीए तथा एनडीए) का विकास कर छोटे-छोटे दलों को भी सत्ता में सहभागी बनने का अवसर दे दिया है। लोकतंत्र की दृष्टि से यह शुभ संकेत है कि भारत के बारे में विश्व समुदाय यह सोचता है कि सत्ता परिवर्तन का प्रभाव हमारी महत्वपूर्ण नीतियों एवं अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों पर नहीं पड़ेगा, इससे भारतीय लोकतंत्र की दृढ़ता एवं स्वीकार्यता बढ़ गयी है और वैश्विक छवि भी साफ-सुथरी हो गयी है।

भारत में लोकतंत्र के स्तरोन्नयन में तथा राजनीतिक व्यवस्था की जड़ों को मजबूत करने में न्यायपालिका ने भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। संविधान लागू होने के बाद से लेकर 1973 के पूर्व तक सर्वोच्च न्यायालय ने विभिन्न संवैधानिक मुकदमों में 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' का दृढ़ता से पालन किया[8], लेकिन बहुमत द्वारा अलोकतांत्रिक व्यवहार कर संविधान को निराऔति करने के भय ने 1973 ई में केशवानन्द भारती वाद में सर्वोच्च न्यायालय को संविधान के मौलिक ढाँचे में असंशोधनीयता का सिद्धान्त प्रस्तुत करने के लिए बाध्य किया, जिसमें संविधान एवं लोकतंत्र की रक्षा हो सकी। आगे चलकर मेनका गाँधी वाद (1978 ई) में सर्वोच्च न्यायालय ने 'विधि की उचित प्रक्रिया' का सिद्धान्त प्रस्तुत कर लोकतांत्रिक अधिकारों की अवधारणा को व्यापक कर 'लोकतंत्र में राज्य के दायित्व' पर प्रकाश डाला। इसके बाद जनहित याचिकाओं ने लोकतांत्रिक भारत में पहली बार 'जनकेन्द्रित न्याय प्रणाली' की स्थापना कर समूची व्यवस्था को उत्तरदायी बनाने का कार्य किया। 2000 ई के बाद न्यायपालिका ने लोकतंत्र को लोककल्याणकारी बनाने का काम शुरू किया और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए अनेक निर्णयों ने संविधान संशोधन द्वारा हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था में सुधार का मार्ग प्रशस्त किया, जैसे - 86वाँ संविधान संशोधन विधेयक (2002 ई) ने संविधान में अनुच्छेद 21ए जोड़कर यह व्यवस्था की कि, "6-14 वर्षा तक के बच्चों को अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करना उनका मूलाधिकार होगा।" इसी प्रकार 91वें संविधान संशोधन द्वारा यह प्रावधान किया गया कि केन्द्र एवं

---

[8] चंपकम दोरायराजन बनाम मद्रास राज्य (1951), शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ (1952), सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य (1965) और गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य (1967) आदि।

राज्यों में क्रमशः प्रधानमंत्री एवं मुख्यमंत्री सहित मंत्रियों की कुल संख्या निचले सदन में सदस्यों की कुल संख्या के 15 प्रतिशत से अधिक नहीं होगी, इस प्रकार जोड़-तोड़ या खरीद-फरोख्त की राजनीति को बन्द करने का प्रयास हुआ। इसी प्रकार सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के अनुपालन में यह व्यवस्था की गयी कि चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों को अपने आपराधिक रिकार्ड समेत अपने एवं पूरे परिवार की चल-अचल सम्पत्ति, बकायों, शैक्षिक योग्यता आदि के बारे में पूरी जानकारी देनी होगी। सूचना का अधिकार भी सर्वोच्च न्यायालय की ही देन है। लोकतंत्र को स्थापित करने तथा उसे सुरक्षित एवं संरक्षित कर समयानुकूल बनाने का दायित्व न्यायपालिका ने भारत में अच्छी प्रकार से निभाया है।

लोकतंत्र की निरन्तर विकासोन्मुख शाखाओं को सींचने में मीडिया की भूमिका की उपेक्षा नहीं की जा सकती। बहुत से घोटाले और भ्रष्ट्राचार मीडिया की पैनी दृष्टि एवं निगरानी के कारण ही सामने आए हैं। जनहित याचिकाओं के प्रारम्भ का श्रेय भी मीडिया को जाता है। हाल के दशक में 'खोजी पत्रकारिता' (स्टिंग आपरेशन) के कारण राजनीतिज्ञों एवं नौकरशाहों का कुरूप चेहरा सामने आया है। इससे जनता अपने नेतृत्वकर्ताओं के बारे में 'चिन्तन' करने लगी है। मानवाधिकारों के हनन का प्रश्न उठाकर, विकास परियोजनाओं के कारण विस्थापित हुए लोगों के पुनर्वास की आवाज बुलन्द कर तथा अनेक जनान्दोलनों को स्वर देकर मीडिया ने समाज के उपेक्षित वर्गों को सत्ता के गलियारों में 'संवाद का विषय' बना दिया है। इससे लोकतंत्र को दृढ़ता मिली है।

स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद निरन्तर बढ़ती राजनीतिक सहभागिता के कारण हुआ राजनीतिक विकास एवं तद्जनित राजनीतिक संस्औति ने हमारे संविधान तथा इसकी परिधि में कार्यरत संस्थाओं को एक नया स्वरूप प्रदान कर दिया है, लेकिन स्वतंत्रता के 64 वर्षा बाद भी हम बहुलवादी भारतीय समाज की मनःस्थिति को लोकतंत्र के राजनीतिक संस्कार में ढलकर उसे राष्ट्रवादी-लोकतांत्रिक सरोकारों से जोड़ने में सफल नहीं हो सके हैं। आधुनिक लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना के बाद भी उनकी कार्यप्रणाली में लोकतांन्त्रिक भावनाओं का समावेश करने के लिए हमें बहुत कुछ करना बाकी है। लोकतंत्र केवल संवैधानिक संस्थाओं का ढाँचा मात्र नहीं होता है, वरन् यह सोचने-समझने एवं जीवन जीने की एक कला भी होती है।[9] यह कला बताती है कि आप अपने विरोधी की

---

[9] सैमुअल पी. हंटिंगटन ने भी अपनी औति 'द इण्ड ऑफ हिस्ट्री' में स्वीकार किया है कि "नो डेमोक्रेसी विदाउट डेमोक्रेट्स"।

बात में भी 'सत्य' ढूँढ़ लीजिए तथा उसे स्वीकार कीजिए।[10] वर्तमान भारतीय परिवेश में व्यक्ति की मानसिकता में लोकतांत्रिक तत्वों का प्रवेश कराने के लिए यह परम आवश्यक है कि व्यक्ति को 'सामाजिक-विभाजन' से मुक्ति दिलायी जाए। उसे जाति या धर्म के एक सदस्य के रूप में या किसी विशेषा भाषा बोलने वाले या क्षेत्र-विशेष में रहने वाले या वहाँ से जुड़े होने वाले व्यक्ति के रूप में या किसी विशेष राजनीतिक दल के वोटर के रूप में न देखकर उसे केवल 'एक व्यक्ति' के रूप में देखा जाय, जिसके पास गरिमामय जीवन जीने का अधिकार है और जिसकी गारण्टी संविधान की प्रस्तावना में दी गई है।

लोकतंत्र को और भी अधिक मजबूत बनाने के लिए भारत में राजनीति और समाज को एक-दूसरे के अनुचित दबाव से बचाना होगा। 'राजनीति' समस्याओं का समाधान करने की एक कला होती है, भारतीय परिवेश में यह प्रयास होना चाहिए कि समाज अपनी समस्याओं को राजनीतिक व्यवस्था के माध्यम से हल करे। लोकतंत्र में राजनीति सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन एवं प्रगति का मंच होती है, यह मंच हमेशा सकारात्मक भूमिकाओं को ही प्रस्तुत करे, नकारात्मक भूमिकाओं का परित्याग करे, इसके लिए राजनीति पर समाज का नियंत्रण स्थापित करना होगा (ध्यान रहे यदि राजनीति ने समाज पर नियंत्रण कर लिया तो लोकतंत्र तानाशाही की ओर बढ़ जायेगा) इसके लिए 'आरगूमेन्टेटिव इण्डियन'[11] और विजिलेंट वोटर के रूप में समाज के प्रत्येक सदस्य को आगे आना होगा। ऐसा करके ही हम भारतीय संसदीय लोकतंत्र को सच्चे अर्थों में उत्तरदायी एवं पारदर्शी बना सकते हैं।

निरन्तर आगे बढ़ते हुए भारतीय लोकतंत्र के समक्ष वै वीकरण की अभिनव चुनौती है। वैश्वीकरण का लाभ उठाते हुए तीव्र आर्थिक सुधारों को लागू करना और सामाजिक आधारभूत ढाँचे (शिक्षा एवं स्वास्थ्य सुविधाओं का स्तरोन्नयन और गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, कुपोषण, बाल मृत्यु दर आदि का समूलोन्मूलन) को मजबूत करने की वचनबद्धता भारतीय लोकतंत्र का एक नया उभरता हुआ चेहरा है, लेकिन भारतीय नीति-निर्माताओं को यह ध्यान देना होगा कि बाजारवाद और लोकतंत्र के मूल सिद्धान्तों (सामाजिक-आर्थिक न्याय) के बीच गैप जितना कम हो, उतना ही अधिक अच्छा है,

---

[10] जॉन स्टुअर्ट मिल की औति 'ऑन लिबर्टी' में कहा गया है कि एक परिपक्व व्यक्ति का यह लक्षण है कि वह अपने शत्रु में भी अच्छाइयों को ढूँढ़ निकाले।

[11] नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन ने यह अवधारणा प्रस्तुत की है और कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवेष एवं व्यवस्था की क्रियाशीलता के प्रति सचेष्ट बने।

अन्यथा दोनों की टकराहट अराजकता को जन्म देगी।[12] सिंगूर एवं नन्दीग्राम की घटना इसी टकराव का परिणाम है। निरन्तर परिवर्तित एवं विस्तृत होती जन-आकांक्षाओं, बढ़ते सामाजिक दबाव, नक्सलवाद-आतंकवाद और उभरती हुई वैश्विक चुनौतियों के समक्ष भारतीय लोकतंत्र अपना सार्थक, सामयिक और सशक्त अस्तित्व बनाए रखे, इसका दायित्व लोक (जनता) और तंत्र (राजनीतिक व्यवस्था) दोनों का समान रूप से है।

---

[12] अमेरिका में प्रारम्भ हुआ 'आक्यूपाई द वॉल स्ट्रीट' आन्दोलन इसी प्रकार की टकराहट की अभिव्यक्ति है।